

भारतीय समाज और धर्मनिरपेक्षता

रोमिला थापर*

“ धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा और इतिहास बहुत पुराना नहीं है। भारतीय समाज ऐतिहासिक रूप से धार्मिक विविधताओं से भरा हुआ रहा है। संविधान में भारतीय समाज की संकल्पना एक धर्मनिरपेक्ष समाज के तौर पर की गई है। हालांकि भारत में धर्मनिरपेक्षता पर कोई सर्वमान्य नजरिया नहीं बन पाया है और इसलिए यह विवादों के घेरे में भी है। शिक्षा के साथ इसका गहरा संबंध है। क्योंकि शिक्षा के जरिए ही एक सम्यक दृष्टि विकसित की जा सकती है। ”

मैं इरफान इंजीनियर की शुक्रगुजार हूं कि उन्होंने मुझे असगर अली इंजीनियर स्मृति व्याख्यान देने का अवसर दिया है। मुझे यह अवसर मिला, इसे मैं अपने लिए बड़े फख्र की बात मानती हूं क्योंकि यह व्याख्यान एक ऐसे व्यक्ति के कृतित्व को स्मरण करने के लिए आयोजित किया जा रहा है जो ताउम्र एक धर्मनिरपेक्ष भारतीय समाज की स्थापना के लिए लगा रहा।

अपनी बात शुरू करने से पहले मैं इस बात पर जोर देना चाहती हूं कि धर्मनिरपेक्षता सिर्फ एक राजनीतिक नारा नहीं है हालांकि हमारे राजनीतिक दल इसे महज एक नारे में तब्दील करने पर आमादा जरूर रहे हैं। उनकी इसी नादानी का नतीजा है कि एक पार्टी सैद्धांतिक रूप से इसकी समर्थक है मगर व्यवहार के धरातल पर इसे मुकम्मल तौर पर लागू करने में हिचकिचाती है जबकि दूसरी पार्टी इसका मजाक उड़ाती है क्योंकि उसकी बुनियादी विचारधारा ही धर्मनिरपेक्षता की विरोधी है। किसी समाज के धर्मनिरपेक्षीकरण का सवाल गहरे तौर पर इस बात से जुड़ा हुआ है कि हम किस तरह का समाज चाहते हैं। शायद इसीलिए आजादी के बाद शुरुआती सालों में इस बात पर काफी चर्चा की गई थी जबकि अब सारा जोर इस बात पर है कि इस तरफ किसी का ध्यान ही न चला जाए क्योंकि अगर इस पर ध्यान दिया गया तो हमें इस बारे में एक बार फिर बड़ी गंभीरता से मंथन करना होगा कि भारतीय समाज को आज हम किस दिशा में ले जा रहे हैं। और तो और, हाल ही में, इस आशय के सुझाव तक सुनने में आए हैं कि संविधान से यह प्रावधान ही हटा दिया जाए। यह सुझाव संभवतः इस उम्मीद में दिया गया होगा कि ऐसा करने पर इसके समावेशन की मांग को ही भुला दिया जाएगा।

* यह आलेख जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली में 19 अगस्त, 2015 को दिए गए असगर अली इंजीनियर स्मारक व्याख्यान का विस्तृत संस्करण है। इसके एक पुराने मसौदे पर अपनी राय-सलाह देने के लिए मैं प्रोफेसर के. एन. पणिक्कर और प्रोफेसर दीपक नैयर का शुक्रिया अदा करती हूं।

बहरहाल, अगर हम एक धर्मनिरपेक्ष समाज चाहते हैं तो इसके लिए हमें अपनी सोच में बदलाव पर गौर करना होगा। हमें सबसे पहले तो अपने-आपको धर्म, जाति या भाषा की कसौटियों के आधार पर परिभाषित करना छोड़ना होगा और सिद्धांत व व्यवहार, दोनों के धरातल पर खुद को मूल रूप से परस्पर समान नागरिकों के रूप में देखना शुरू करना होगा। इसके लिए राज्य और नागरिकों के बीच परस्पर उत्तरदायित्व का विचार निहित है। ऐसी स्थिति में धर्म, जाति, भाषा व क्षेत्र जैसी दूसरी पहचानों के संबंध अपरिहार्य रूप से दायम महत्व के रह जाएंगे। इन पहचानों को समायोजित भी करना होगा ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि नागरिकों के अधिकार और निहितार्थ ही सर्वोपरि रहें। अंततः राज्य से यह अपेक्षा की जाएगी कि वह किसी भी धर्म को संरक्षण प्रदान करने या किसी धार्मिक संगठन को सहायता देने से दूर रहे। यह एक ऐसा बदलाव है जो अभी ठीक से शुरू भी नहीं हुआ है और कुछ कोणों से इसके सुनियोजित निषेध की प्रवृत्तियां पहले ही सामने आने लगी हैं।

इस व्याख्यान में मैं तीन ऐसे आयामों पर विचार करने जा रही हूँ जो भारतीय समाज और धर्मनिरपेक्षता की किसी भी चर्चा में लाजिमी तौर पर उठा करते हैं। पहले मैं यह स्पष्ट करना चाहती हूँ कि मैं 'धर्मनिरपेक्ष' को कैसे परिभाषित करती हूँ। मैंने पाया है कि आमतौर पर हमारे देश में इसकी जो परिभाषा प्रायः स्वीकृत और प्रचलित है वह नाकाफी है और उस पर आम सहमति भी नहीं है। तत्पश्चात् मैं इस सवाल पर गौर करूंगी कि हमारे देश में धर्मों की सामाजिक भूमिका यूरोपीय अनुभव से भिन्न रही है और लिहाजा भारत में धर्म को जाति से अलग करके देखने की बजाय उसे अनिवार्य रूप से जाति के साथ जोड़कर ही देखा जाना चाहिए। अंत में मैं इस बारे में अपने कुछ विचार पेश करूंगी कि भारतीय समाज के धर्मनिरपेक्षीकरण की क्या प्राथमिकताएं होनी चाहिए।

परिभाषाएं

सबसे पहले मैं यह स्पष्ट करना चाहती हूँ कि 'धर्मनिरपेक्ष', 'धर्मनिरपेक्षता' और 'धर्मनिरपेक्षीकरण' से मेरा क्या आशय है। धर्मनिरपेक्ष वह है जो दुनिया से संबद्ध है मगर धार्मिक से भिन्न है। धर्मनिरपेक्षता सामाजिक संस्थानों के ऊपर धार्मिक संगठनों व प्रतिष्ठानों के नियंत्रण पर सवाल उठाने का विचार है। धर्मनिरपेक्षता का विचार समाज में धर्म की उपस्थिति का निषेध नहीं करता बल्कि यह निर्धारित करने का प्रयास करता है कि किन सामाजिक संस्थानों पर धर्म का नियंत्रण हो सकता और किन पर नहीं हो सकता। यह भेद बहुत महत्व का है। धर्मनिरपेक्षीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से समाज इस भेद को बदलता और पहचानता है।

जब 1851 में पहली बार इस शब्द का प्रयोग किया गया था तो 'धर्मनिरपेक्ष' का अर्थ बहुत बुनियादी किस्म का था। यह शब्द इस तथ्य की हिमायत में इस्तेमाल किया गया था कि मानव समाज ने सामाजिक नैतिकता, मूल्यों और नीतियों से संबंधित कानून इसलिए विकसित किए हैं ताकि लोग खुशहाल हों और समाज लयपूर्ण ढंग से चलता रहे। ये कानून न तो किसी दैवी शक्ति की रचना हैं और न ही उन्हें किसी दैवी शक्ति के अनुमोदन की आवश्यकता है। धार्मिक प्रतिष्ठान भले ही इस तरह के अनुमोदन का दावा कर सकते हैं मगर प्रभावतः कानून उसके बिना भी वजूद में रह सकते हैं। इन कानूनों का प्राधिकार समाज का गठन करने वाले लोगों की इस चिंता में निहित है कि समाज के लिए क्या अच्छा है। लिहाजा, प्राधिकार को कानूनों के जरिए अमल में लाया जा रहा था। सामाजिक मूल्यों की जड़ें अक्सर तर्कशील और विवेकपूर्ण चिंतन में निहित होती थीं। वहां इसकी विशेष रूप से आवश्यकता थी जहां एक ऐसी नैतिक संहिता स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा था और किया जा रहा है जिस पर पूरे समाज की सहमति हो और वह किसी धर्म विशेष से संबद्ध न हो।

इसका आशय यह है कि समाज को संचालित करने वाले कानूनों और सामाजिक मूल्यों को अपने-आपमें मान्यता मिलनी चाहिए न कि इसलिए कि उन्हें कोई दैवी अनुमोदन प्राप्त है। उनकी धर्म या जाति से परे अपनी एक सत्ता है। धर्म अपने देवी-देवताओं और मृत्योपरांत अस्तित्व में आस्था पर आश्रित था। मगर समाज के कानूनों को धर्मनिरपेक्ष सत्ता द्वारा सूत्रबद्ध और क्रियान्वित किया जा रहा था। लिहाजा धर्मनिरपेक्षता का धर्म से कोई झगड़ा नहीं था- धर्मनिरपेक्षता धर्म का निषेध नहीं है बल्कि यह विविध धार्मिक संगठनों की मार्फत सामाजिक क्रियाकलापों पर धर्म के नियंत्रण की सीमा तय करने का एक साधन मात्र है।

इस सिद्धांत के कई निहितार्थ थे। एक निहितार्थ यह था कि इससे लोगों को उसके परे जाकर सोचने की आजादी मिलती थी जो उन्हें धार्मिक रूप से सही बताया जाता था। पुनः, इसका मतलब धर्म को घूरे पर फेंक देना नहीं था बल्कि इसका आशय सामाजिक आचरण के कायदे-कानूनों को धर्म के नियंत्रण से पृथक करना था। इससे लोगों में अनैतिकता फैलने का कोई खतरा नहीं था जैसा कि कुछ लोगों को भय था क्योंकि कानून तोड़ने के एवज में सजा का डर भी पैदा हो चुका था और यह सजा ऐसी थी जो ठीक इसी जिंदगी में, फौरन उन्हें मिल जाने वाली थी। इस नई व्यवस्था में सजा को धार्मिक संहिताओं की तरह अगले जीवन के लिए स्थगित नहीं किया जा सकता था। लिहाजा, लोगों को अपने कानूनों के उद्देश्य के बारे में सोचने का मौका मिला और यह हमेशा एक उपयोगी बात होती है। कानून के पालन को तब बल मिलता है जब लोग इस बात को समझ पाते हैं कि कोई कानून क्यों बनाया गया है।

धर्म का पाठ ज्यादातर लोगों को बचपन से ही पढ़ा दिया जाता है और वे उस पर सवाल खड़ा नहीं किया करते। धीरे-धीरे यह एक मनोवैज्ञानिक सहारा बन जाता है और तब उस पर प्रश्न उठाने की जरूरत और भी कम रह जाती है। चीजों के बारे में तर्क से सोचना हमेशा उतना आसान नहीं होता जितना चुपचाप उस बात को स्वीकार कर लेना होता है जो आपको बताई गई है। चीजों को तार्किक ढंग से देखने के लिए आपको स्वतंत्र ढंग से सोचना सीखना होगा। यह तभी हो सकता है जब लोगों को जो शिक्षा मिली है उससे उन्हें अपने फैसलों के बारे में तर्क के आधार पर सोचने की क्षमता हासिल हुई हो। इसका विकल्प यह था कि लोगों को किसी अज्ञात पारलौकिक शक्ति पर आश्रित बना दिया जाए। मगर हर चीज को किसी दैवी योजना का अंग बताना हर सवाल का उत्तर तो नहीं हो सकता था। लिहाजा, शिक्षा के जरिए आस्था और विश्वास के अलावा अन्य व्याख्याओं की तलाश पर या अगर साक्ष्य उपलब्ध हों तो आस्था व विश्वास पर आधारित व्याख्याओं को और तराशने पर जोर दिया गया। मगर अधिकांशतः सामाजिक कानूनों को प्राकृतिक और इंसानी, दोनों जगहों की पड़ताल के आधार पर तय किया जाने लगा। इस प्रकार, सामाजिक कानूनों की व्याख्या शिक्षा का और उसे धर्मनिरपेक्ष बनाने के निहितार्थों के बारे में सोचने का एक अनिवार्य हिस्सा बन गई।

धर्म एक निजी, भावनात्मक जरूरत के रूप में पैदा हुआ था। बहुत सारे लोगों के लिए अभी भी इसका यही अर्थ है। क्रमशः इसको विस्तार देकर इस बात की व्याख्या भी की गई कि ब्रह्माण्ड किस तरह चलता है और इसके लिए एक पराशक्ति को जिम्मेदार बताया गया और उसे एक गहरे आदर की नजर से देखा जाने लगा। धीरे-धीरे यह व्यक्तिगत आस्था एक जटिल संगठित धर्म की शक्ति लेती गई और उसने ऐसे संस्थानों को जन्म दिया जो समाज और राजनीति पर नियंत्रण की गहरी आकांक्षाएं रखते थे। इस बदलाव के साथ धर्म आस्था के एक केंद्र के रूप में भी और विभिन्न धार्मिक संगठनों के जरिए सामाजिक संस्थानों को नियंत्रित करने वाली संस्था के रूप में भी शक्तिशाली होता चला गया। कई स्थानों पर उसकी सत्ता शासकीय प्राधिकार यानी राज्य की सत्ता के सामान्तर स्थिति में पहुंच गई। धर्म का यही वह पहलू है जिस पर एक धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति अंकुश चाहता है और उसे राज्य के क्रियाकलापों से पृथक रखना चाहता/चाहती है। इस योजना में एक लोकतंत्र के गठन में धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति की उपस्थिति को जगह देना लाजिमी हो जाता है। सामाजिक संस्थानों पर धार्मिक नियंत्रण और धर्म का भेद इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि हम अक्सर यह कहकर इस बात को नजरअंदाज कर देते हैं कि धर्मनिरपेक्षता धर्म का पूरी तरह निषेध करती है।

इसके बाद धर्मनिरपेक्षता एक अतिरिक्त अर्थ भी ग्रहण कर लेती है। इंसानी संस्थाओं द्वारा कानूनों के निर्धारण और पालन पर राज्य की सत्ता धर्म से भिन्न होनी चाहिए क्योंकि धर्म को मिलने वाली वैधता का स्रोत कहीं और होता है- आस्था और देवी-देवताओं में। जाहिर है दोनों की सत्ता भिन्न है। मैं फिर इसको दोहरा दूँ, धर्मनिरपेक्ष का अर्थ धर्म के निषेध से बिल्कुल नहीं है। यह नास्तिकता का समतुल्य नहीं है। धर्मनिरपेक्ष का आशय धर्म को मिटाना नहीं है। मगर, सामाजिक नियमों और संस्थानों पर धार्मिक संगठनों व संस्थानों के नियंत्रण को सीमित किया जाना जरूरी है।

नागरिक कानून (यानी सिविल कानून) किसी भी समाज का रीढ़ होते हैं। उन्हें इंसानी जीवन के अधिकार की रक्षा करनी चाहिए और यह सुनिश्चित करना चाहिए कि ऐसा कोई भेदभाव न हो जिससे किसी के जीवन और काम पर कोई प्रभाव पड़े। एक इंसान के जीवन में बदलाव के उन बिंदुओं की रक्षा के लिए यह बहुत जरूरी है जिनके लिए

कानून की जरूरत होती है- जैसे, जन्म, विवाह या उसका समाप्त होना, शिक्षा की प्रक्रियाएं जिनके माध्यम से बच्चे का सामाजिकरण किया जाता है, व्यवसाय और रोजगार तथा उत्तराधिकार, विशेष रूप से संपत्ति संबंधी उत्तराधिकार। ये सारे सवाल नागरिक कानून के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। इस व्यवस्था को और प्रभावी बनाने के लिए समाज और मनुष्यों के सामाजिक जीवन के क्रियाकलापों से संबंधित कानूनों में इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वे एक आधुनिक राज्य में कल्याण के न्यूनतम आयामों का बंदोबस्त कर सकें - जिसमें सबसे आवश्यक हैं भोजन और साफ पानी, समाज के सभी सदस्यों के लिए शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं तक समान पहुंच तथा रोजगार। ये पहलू धर्म और जाति से इतर होने चाहिए। अगर नागरिक कानूनों को सार्वभौमिक और समरूप बनाना है, जैसा कि एक धर्मनिरपेक्ष समाज में वे होने चाहिए, तो नागरिक कानूनों को इन आयामों की गारंटी जरूर देनी होगी। किसी भी आधार पर भेदभाव अस्वीकार्य होगा।

इस तरह, एक धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था में भी धार्मिक प्राधिकार कायम रहता है मगर वह धार्मिक विश्वास और आचरण को निर्धारित करने तक ही सीमित होता है। कई लोगों का कहना है कि धर्म और राज्य के बीच कोई सख्त विभाजक रेखा नहीं होनी चाहिए बल्कि दोनों के बीच एक सिद्धांतनिष्ठ फासला होना चाहिए। इससे धर्म के भीतर, धर्मों के बीच या धर्म और राज्य के बीच नए समीकरण बन सकते हैं। कुल मिलाकर यह फासला किसी एक धर्म के वर्चस्व की गुजाइश खत्म कर देगा क्योंकि प्रत्येक धर्म का राज्य पर समान अधिकार होगा और कानून के समक्ष प्रत्येक धर्म की हैसियत समान होगी। फिर भी, इस बंदोबस्त में एक हद तक निश्चित पृथकता होगी क्योंकि धार्मिक सत्ता सामाजिक नियमों को नियंत्रित नहीं कर रही होगी।

इसका आशय वैसा नहीं है जैसा धर्मनिरपेक्षता की भारतीय परिभाषा में व्यक्त किया जाता है- यानी सारे धर्मों का सह-अस्तित्व। इस परिभाषा के संबंध में हमारे दो पुराने शासकों- अशोक और अकबर- का अक्सर हवाला दिया जाता है। कहा जाता है कि उनका राज्य धर्मनिरपेक्षता का एक प्रारंभ बिंदु था। मगर, धर्मनिरपेक्षता के लिए धर्मों का सिर्फ सह-अस्तित्व ही काफी नहीं है क्योंकि इसके बाद भी धर्मों के साथ राज्य द्वारा असमान व्यवहार किया जा सकता है और कुछ धर्म हाशिये पर सिमटे रह सकते हैं। जब हम आज के धर्मों का जिक्र करते हैं तो अक्सर तकरीबन एक चौथाई या उससे भी ज्यादा आबादी के धर्म के बारे में सचेत नहीं होते जो कि समाज के सबसे निचले सिरों पर खड़ी है। बेशक, सह-अस्तित्व और कानून के समक्ष समान फैसलों को मान्यता देना निश्चित रूप से पहला कदम होना चाहिए। मगर हमें यह भी जरूर पूछना होगा कि यह कदम कहां तक जाएगा और दूसरा कदम क्या होना चाहिए?

यह परिभाषा अभी अधूरी है- समाज पर धार्मिक सत्ता के दायरे का सवाल अभी भी अनुत्तरित है और यह एक बहुत महत्वपूर्ण सवाल है। हमारा इरादा किसी भी सूरत में यह नहीं होना चाहिए कि राज्य और धर्म के बीच सीमाएं खड़ी कर दी जाएं। इसकी बजाय यह तय किया जाना चाहिए कि कौनसी गतिविधियां नागरिक (सिविल) न्यायाधिकरण के तहत आएंगी और कौनसी गतिविधियां या विषय धार्मिक सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाले संगठनों के नियंत्रण में चलेंगे। एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में समानता उतनी ही अनिवार्य है जितना यह तय करना अनिवार्य है कि कौनसा कानून किसके नियंत्रण में चलेगा।

समकालीन भारत में धर्मों का सह-अस्तित्व पहले ही मौजूद है मगर धर्मनिरपेक्षता का आयाम उतना प्रत्यक्ष नहीं है और कुछ लोग यह भी कह सकते हैं कि वह पूरी तरह गायब है। राजनीतिक और राजकीय संरक्षण हमेशा खुद को धार्मिक संगठनों से दूर नहीं रखते बल्कि, कई बार दोनों बहुत घनिष्ठता से आपस में जुड़े होते हैं।

कुछ लोग यह कहकर धर्मनिरपेक्षता का विरोध करते हैं कि यह एक पश्चिमी अवधारणा है जो भारत की आबोहवा के लिए उपयुक्त नहीं है। अगर ऐसा है तो क्या यही बात आप राष्ट्रवाद और लोकतंत्र के बारे में भी नहीं कहेंगे? उत्तर-औपनिवेशिक भारत के लिए ये दोनों भी तो नए ही हैं। और हां, नवउदारवादी बाजार अर्थव्यवस्था को आत्मसात् कर लेना तो पश्चिम के विचारों का और भी गहरा आयात है। समाज के धर्मनिरपेक्षीकरण के समर्थन का मतलब खुद को किसी पश्चिमी या परायी अवधारणा के अधीन मान लेना नहीं है बल्कि आजादी के बाद अपने इतिहास में आए

बदलावों को समझने का एक प्रयास भर है। एक राष्ट्र होना आधुनिक युग का काफी नया अनुभव है और आज दुनिया के तकरीबन हर हिस्से में इसका बोलबाला कायम हो चुका है। हमने लोकतंत्र को सबसे व्यवहारिक व्यवस्था के रूप में अंगीकार किया जबकि यह काफी नया अनुभव था और लोकतांत्रिक कार्य प्रणाली के लिए एक धर्मनिरपेक्ष समाज अपरिहार्य आवश्यकता है।

धर्मनिरपेक्षता एक ऐसे सामाजिक परिवर्तन का अनिवार्य लक्षण है जो तब सामने आता है जब कोई समाज आधुनिक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संस्थानों के सहारे काम करना शुरू करता है। यह एक ऐसी अवधारणा है जो आधुनिकीकरण के साथ आती है। कानून और नैतिकता के संदर्भ में और धर्म व राज्यों के संबंधों के संदर्भ में यह एक नई दिशा ग्रहण कर लेती है। हमें अपने प्राक्-आधुनिक इतिहास में इसके मौजूदा रूपों को ढूंढने की जरूरत नहीं है। मगर जिसकी हम तलाश कर सकते हैं और जिसके हमारे पास साक्ष्य भी हैं, वह यह है कि हमारे यहां विभिन्न प्रकार के स्थापित धर्म परंपरा (ऑर्थोडॉक्सी) पर सवाल उठाने की एक लंबी और प्रत्यक्ष परंपरा रही है। इन परंपराओं ने भारतीय धर्मों में रूढ़िवाद पर भी सवाल उठाए हैं। यह सिलसिला एक शताब्दी ईसा पूर्व से शुरू होता है और आज तक अनवरत जारी है। इन विचारधाराओं के गहन अध्ययन से हमारे लिए तर्कशील चिंतन ज्यादा आसान हो जाएगा और इस दावे की हवा निकाली जा सकती है कि भारतीयों ने कभी भी रूढ़ियों पर सवाल नहीं उठाया है। जब कानूनों को दैवी निर्देशों की बजाय मानव समाजों द्वारा बनाए गए कानूनों के रूप में मान्यता मिलती है तो सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप इन कानूनों में बदलाव पर खींचतान भी संभव हो जाती है।

भारतीय धर्मों की औपनिवेशिक व्याख्या

आइए, अब जरा इस विषय के खासतौर से भारतीय पहलू पर और नजदीक से गौर करें। यहां मैं पहले संक्षेप में इस बारे में टिप्पणी करना चाहती हूँ कि मैं भारत के अतीत में धर्म और समाज के अंतर्संबंधों को कैसे देखती हूँ ताकि उसकी तुलना इन अंतर्संबंधों की वर्तमान दशा-दिशा से की जा सके। यदि हम समाज में विद्यमान ऐतिहासिक रूपों और उनमें आए सिलसिलेवार बदलावों को देख सकते हों तो उल्लेखनीय निहितार्थों वाले किसी भी सायास सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण करना आसान हो जाता है। आखिरकार हमारा वर्तमान हमारे अतीत के गर्भ से ही तो पैदा होता है। मेरा कहना है कि समाज और धर्म के संबंधों के मामले में हमें औपनिवेशिक चिंतन द्वारा गढ़े गए विचारों की घुट्टी पिलाई जाती रही है। औपनिवेशिक दृष्टि एक तरह से हमारी इस समझदारी में एक विच्छेद था कि प्राक्-आधुनिक भारतीय समाज में धर्म किस तरह काम करता था। और इसके बावजूद हमने बिना सवाल उठाए इसे अपना लिया। लिहाजा, यहां इस विषय पर संक्षेप में ध्यान देना उपयोगी रहेगा।

यूरोप के प्रसंग में धर्मनिरपेक्षता को अक्सर चर्च और राज्य के बीच पृथकता के रूप में देखा जाता रहा है। इसे एक द्विपक्षीय पारस्परिक संबंध माना जाता है क्योंकि आमतौर पर वहां धर्म एक एकात्म (मोनोलिथिक) धर्म था- ईसाई धर्म, जिसमें केवल दो ही धाराएं थीं - कैथलिक और प्रोटेस्टेंट। इस एकात्मता पर जोर इतना ज्यादा था कि प्रोटेस्टेंट धारा के उदय से पहले जो लोग कैथलिक मत और व्यवहार पर सवाल खड़ा करते थे उनको धर्मविरोधी कहकर भारी दण्ड दिए जाते थे। कुछ को खूंटी से बांधकर जला दिया जाता था, कुछ को पश्चाताप करना पड़ता था और बहुतों को चर्च द्वारा सुनाए गए दण्ड भुगतने पड़ते थे। बाद का प्रोटेस्टेंटवाद संभवतः ज्यादा लचीला था मगर उसके इन शुरुआती अनुभवों को भुलाया नहीं जा सकता (प्रसंगवश, अब अपने-अपने धर्मों के साथ आ रहे प्रवासी समुदायों के चलते बहुत सारे यूरोपीय देशों में यह एकल, एकात्म धर्म भी बदलता जा रहा है और लिहाजा समाज में धर्मनिरपेक्षता के सवाल पर पहले से ज्यादा खींचतान होने लगी है)।

एकात्म और विशाल अखिल यूरोपीय समुदायों से संबद्ध धर्म की यह यूरोपीय अवधारणा उपनिवेशकारों के साथ भारत आई और वे इसी चश्मे से भारतीय धर्मों को भी देखने की कोशिश करने लगे। हमें भारतीय धर्म की उनकी इस दृष्टि पर नए सिरे से गौर करने की जरूरत है। अंग्रेजों के लिए भारतीय समाज की औपनिवेशिक छवि दो एकात्म धर्मों- हिंदू और मुसलमान- पर केंद्रित थी और लिहाजा वे भारत को दो धर्मों के आधार पर परिभाषित दो राष्ट्रों- हिंदू और

मुसलिम राष्ट्र- के रूप में ही देखते थे। दोनों एक ही भूक्षेत्र में निवास करते थे। अंग्रेज उन्हें लगातार एक-दूसरे से शत्रुता के संबंधों में दिखाते थे। अंग्रेजों का कहना था कि उनकी पारस्परिक दुश्मनी के चलते किसी बाहरी नियंत्रणकारी सत्ता का होना जरूरी है। यही तर्क अंग्रेजों की नजर में औपनिवेशिक शासन के लिए एक औचित्य बनता गया। जैसा कि बहुत सारे इतिहासकारों ने दिखाया है, वे भारत के इतिहास, खासतौर से मध्यकालीन भारतीय इतिहास को भी इसी नजर से देखने लगे और इस तरह दो धर्मों और उनकी विचारधाराओं में फासला और बढ़ा दिया गया। अतीत की इस दो-ध्रुवीय व्याख्या में साझा इतिहास के लिए जगह नहीं थी।

धर्म के आधार पर बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समुदायों की अवधारणा ने एकात्म धर्म के विचार को और पुष्ट किया है। इसने धर्म की राजनीतिक को भी हवा दी है। बहुसंख्यक समुदाय के दावों को अल्पसंख्यक समुदायों की आकांक्षाओं के विपरीत रख दिया गया है। सामाजिक और राजनीतिक दावों व मांगों को धार्मिक दावों और मांगों के रूप में पेश किया गया। समाज की ऐसी व्याख्या लोकतंत्र के संचालन को अवरुद्ध करती है। स्थायी बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समुदायों का होना लोकतंत्र के मानकों के विरुद्ध है। निर्वाचन व्यवस्था में जाति और धर्म आधारित वोट बैंक का उदय लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए हरगिज मुफीद नहीं है। लोकतांत्रिक रूप से अस्तित्व में आई बहुसंख्या को व्यवहारिक रूप देने के लिए जरूरी है कि बहुत सारे लोग किसी खास मुद्दे पर इकट्ठा हों। इसी कारण एक लोकतांत्रिक बहुमत के घटक हर मुद्दे के साथ बदल जाते हैं और विशिष्ट रूप से परिभाषित सदस्यता वाला कोई स्थायी बहुसंख्यक समुदाय नहीं होता।

उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद ने इस छवि को चुनौती देने का प्रयास किया क्योंकि इस व्यापक आधार वाले राष्ट्रवाद का समावेशी होना जरूरी था और उसमें विविध दृष्टिकोणों और एक साझा इतिहास की व्याख्या भी जरूरी थी। यहां साझा इतिहास बहुत महत्वपूर्ण है। मैं ऐरिक हॉब्सबॉम को उद्धृत करना चाहती हूं जिन्होंने लिखा था कि राष्ट्रवाद के लिए इतिहास का वही महत्व है जो अफीम के आदी व्यक्ति के लिए अफीम का होता है। समस्या की असली जड़ यही है। राष्ट्रवाद के प्रसंग में, यही इतिहास पहचान के विचार को सींचता है। उपनिवेशवादी विरोधी राष्ट्रवाद ने धार्मिक समुदायों के एकात्म स्वरूप पर प्रश्न खड़ा नहीं किया। इसकी बजाय, उसने उनकी परस्पर शत्रुता के दावे को नकार दिया और केवल धार्मिक समुदायों के सह-अस्तित्व पर जोर दिया। यही बात धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा का केंद्रबिंदु बन गई और क्रमशः इसे धर्मनिरपेक्षता की भारतीय परिभाषा के नाम से भी जाना जाने लगा। मगर जैसा कि हम हालिया घटनाओं से देख सकते हैं, यह परिभाषा और कोशिश कामयाब नहीं हो पाई है। एक वजह यह थी कि हमारे देश में धर्म की औपनिवेशिक दृष्टि उन विचारधाराओं के लिए आधारशिला रही है जिनको अब धार्मिक राष्ट्रवाद के नाम से जाना जाता है, वे विचारधाराएं जिन्होंने भारत को सांप्रदायिक समाज में रूपांतरित किया है। सौ साल पहले या उसके आसपास तक मुसलिम लीग और हिंदू महासभा जैसे शब्दों की बात होती थी। राजनीतिक गोलबंदी के लिए धर्म का प्रयोग करने वाली विचारधाराओं के मुकाबले यह संभवतः सीमित धार्मिक ऑर्थोडॉक्सी थीं। आज धार्मिक राष्ट्रवाद की शृंखला में हिंदू, मुसलिम, सिख और अन्य धार्मिक संगठन मुस्तेदी से खड़े हैं। इनके पास विशाल राजनीतिक महत्वाकांक्षाएं हैं और वे राजनीतिक प्रभाव बनाए रखने के लिए अपने सामुदायिक कायदे-कानूनों पर अपना नियंत्रण किसी भी तरह ढीला होने देना नहीं चाहते हैं। साझा इतिहास का निषेध कर दिया गया है, अब इतिहास विभाजनकारी है और यही इस युद्ध का मैदान बन जाता है।

यहां यह पूछना जायज होगा कि क्या प्राचीन काल से ही धर्म इसी तरह काम करता रहा है? या हमने अपने अतीत का और अपने पुराने सामाजिक संस्थानों में धर्म की भूमिका का विश्लेषण नहीं किया है? इन संगठनों के क्या रूप थे, वे किस तरह अपनी सत्ता को साकार करते थे, और हम इस बात को क्यों नहीं देखते कि समाज के कौनसे तबके इस तरह के संगठनों के समर्थक और सहायक थे?

यहां मैं यह दलील देना चाहती हूं कि हमारे देश में धर्मों की ऐतिहासिक तस्वीर पेचीदा थी और इसे केवल दो ध्रुवों के रूप में नहीं देखा जा सकता। मुझे ऐसा लगता है कि हमें दो तरह के संबंधों की पड़ताल करनी होगी। एक किस्म के संबंध इससे संबंधित थे कि समाज और धर्म एक-दूसरे के साथ किस तरह अंतर्क्रिया करते थे। धार्मिक समूहों में

अनेक तंत्र समाए होते थे। केवल एकाश्म समुदाय नहीं होते थे और धर्म के भीतर सामाजिक कड़ियां जाति के माध्यम से जुड़ती थीं। ये सामाजिक कड़ियां वर्ण, जाति, जात आदि के माध्यम से अस्तित्व में आती थीं। इसके बाद पंथों और जातियों का यह समुच्चय दूसरे संबंधों को प्रभावित करता था जो धार्मिक पंथों और राज्य के बीच बनते थे। इस पूरी तस्वीर में कोई चर्च नहीं है जो विभिन्न पंथों को किसी एक इकाई के सूत्र में पिरो सके। राज्य को अलग-अलग पंथों के साथ काम करना होता था इसलिए उसके इन संबंधों में एक विविधता होती थी।

भारतीय परिदृश्य में सबसे महत्वपूर्ण संबंध विभिन्न धार्मिक पंथों और बहुत सारी जातियों को जोड़ने वाली कड़ियों में निहित था। पंथ विश्वासों का प्रसार करते थे, जाति अक्सर उसके सामाजिक संदर्भ पर हावी होती थी। दोनों की अंतर्निभरता के जरिए यथास्थिति को मापा जाता था। सभी धर्मों में ऊंची जातियां- चाहे वे जातिगत बंधनों का पालन करती हों या न करती हों- आमतौर पर धर्म के ज्यादा औपचारिक स्वरूप के साथ जुड़ी होती थीं और धर्म के ये रूप आमतौर पर पाठ आधारित होते थे। दूसरी तरफ निम्न जातियां थीं जो कि संख्या में बहुत ज्यादा थीं और वे अपनी धार्मिक पहचानों के मामले में प्रायः ज्यादा लचीला रवैया अपनाती थीं। जाति सामाजिक संहिता को निर्धारित करती थी और यह संहिता औपचारिक धरातल पर उन लोगों द्वारा संभाली जा रही थी जो शिक्षित और कानून के ज्ञाता होने का दावा करते थे। कानून के पाठों या स्रोतों को जानने वाले लोग बहुत थोड़े थे। ज्यादातर लोगों के लिए परंपरा, जाति समुदाय में चलने वाली श्रुतियां, और संभवतः दैनिक दिनचर्या ही उनके कानूनों का स्रोत था। वैसे भी, संहिताओं के पक्ष में दैवी स्वीकृति के दावों की चाहे कितनी भी दुहाई क्यों न दी जाए कुल मिलाकर तो वे मानव निर्मित ही होती हैं। हमारे दौर में सामाजिक संहिता पर जाति और पंथ के प्रभुत्व की जगह एक सिविल कानून आ जाता है जो सभी के लिए समान और प्रभावी होता है। इसके लिए हमें सिविल कानून को फिर से देखना होगा ताकि उसकी धर्मनिरपेक्षता सुनिश्चित की जा सके और यह सुनिश्चित किया जा सके कि वह सामाजिक न्याय को पुष्ट करने वाला हो। ये दोनों ही पहलू मूल्यों के रूप में हमारे लिए जाने-पहचाने हैं मगर सामाजिक संस्थानों में उनका प्रयोग कमोबेश नया है।

भारत में धर्मों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

धार्मिक पाठों के बहुत सारे बहुमूल्य और बहुत सटीक अध्ययन किए गए हैं जिन्होंने इन पाठों और कृतियों के बारे में हमारी समझदारी को बढ़ाया है मगर, विभिन्न धर्मों द्वारा रचे गए संस्थानों की पड़ताल पर तुलनात्मक रूप से कम ध्यान दिया गया है। ये संस्थान इन धर्मों के विश्वासों का प्रसार करने और सामाजिक नियंत्रण के केंद्र की भूमिका निभाते थे। एक एकाश्म, विभेदरहित धार्मिक समाज की बजाय हमारे लिए यह ज्यादा बेहतर होगा कि हम जाति और पंथ को जोड़ने वाली कड़ियों का अध्ययन करें ताकि अपने अतीत में धर्म और समाज के अंतर्संबंधों को और अच्छी तरह समझ सकें। जाति और पंथ को जोड़ने वाली कड़ियों में एक खास तरह का लचीलापन या तरलता थी जो एकाश्म धार्मिक समुदायों में नहीं होती थी। ऐसे में हम यह पूछ सकते हैं कि क्या सख्ती/कसावट धर्म में कम और जातिगत भेदभाव में ज्यादा तो नहीं थी? अगर ऐसा रहा है तो भारत में धर्म की इस औपनिवेशिक व्याख्या की हमें फिर से पड़ताल करनी होगी। शायद हमें इस बात पर और करीब से गौर करना होगा कि हमारे अतीत में और वर्तमान में जाति, या यहां तक कि वर्ग के तत्व भी किस तरह धर्म और समाज के संबंधों को निर्धारित किया करते थे और कर रहे हैं। समाज के कौनसे तबके थे जो यह तय करते थे कि कौनसे राजनैतिक-धार्मिक संगठनों को पुष्ट किया जाना चाहिए और क्यों?

प्राक्-इस्लामिक दौर में किसी एकाश्म हिंदू धर्म का कोई जिक्र नहीं मिलता। दिलचस्प बात यह है कि जिन्हें हम आज धर्मों की संज्ञा देते हैं उनका भी वर्तमान रूप में कोई उल्लेख नहीं था बल्कि मोटे तौर पर दो धाराओं का हवाला दिया जाता था जो अपने अपने विशिष्ट विचारों के प्रसार में संलग्न थीं। इन्हें ब्राह्मण और श्रमण के नामों से जाना जाता था। इन दोनों के बीच एक बुनियादी भेद ईश्वर के निषेध या उसमें आस्था से संबंधित था और दूसरा अहम् फर्क मृत्योपरांत जीवन से संबंधित सिद्धांतों में निहित था। ब्राह्मणवादी विश्वासों और अनुष्ठानों वाली धारा को ब्राह्मण के नाम से जाना जाता था। बौद्ध, जैन और अन्य स्थापित धर्म से विमत (हेट्रोडॉक्स) व्यवस्था के सन्यासियों, नास्तिकों

और उनके अनुयायियों को श्रमण के नाम से जाना जाता था। श्रमण धारा के पंथ वेदों, दैवी अनुमोदन और आत्मा की अवधारणा को नहीं मानते थे और फलस्वरूप वे ब्रह्मांड और मानव समाज की ज्यादा तर्कशील व्याख्याओं के लिए जाने जाते थे। इन दोनों ही श्रेणियों में बहुत सारे पंथ मौजूद थे और उनके विश्वासों में भी भारी विविधता थी।

इससे यह तथ्य रेखांकित हो जाता है कि विविध संप्रदाय/पंथों में कुछ संप्रदाय ऐसे थे जो स्थापित धर्म परंपरा (आर्थोडॉक्सी) के अनुयायी थे और कुछ संप्रदाय ऐसे थे जो स्थापित धर्म परंपरा से विमत (हेक्टोडॉक्सी) के समर्थक थे। एकाश्म धर्मों के मुकाबले संप्रदायों की विशेषता यह थी कि वे कि विशुद्ध आर्थोडॉक्स से कम आर्थोडॉक्स की ओर जा सकते थे। ऐसे में कम आर्थोडॉक्स संप्रदायों को नए विश्वासों का समावेश करने में मदद मिलती थी और इसे ईशनिंदा नहीं माना जाता था। ईशनिंदक अपने ही तौर पर काम करते थे। इससे दोनों श्रेणियों के बीच मामूली ही सही मगर यदा-कदा सीमाओं के अतिक्रमण की गुजाइंश मिल जाती थी। जब इस तरह के टकराव गंभीर रूप ले लेते थे तो हिंसा का सहारा लिया जाता था।

इस बिंदु पर यह भेद गौर करने वाला होगा कि ईसाई धर्म में पंथ (सेक्ट) का जो अर्थ लिया जाता है वह भारतीय संदर्भों में इसके अर्थों से भिन्न है। संस्कृत और बाद की भारतीय भाषाओं में बार-बार इसके लिए प्रयोग किए गए शब्द कई अर्थों की एक शृंखला को दर्शाते हैं जो इस बात का संकेत है कि ये कहीं ज्यादा परिचित अवधारणाएं थीं। लिहाजा, पार्शद मूल रूप से एक निरपेक्ष अर्थ वाला शब्द था मगर धीरे-धीरे उसमें ईशनिंदा का भाव भी समाहित कर दिया गया और यद्यपि विरोधी इसका भले ही प्रयोग करते रहे हों, लोग अपने-आपको परिभाषित करने के लिए इसका प्रयोग नहीं करते थे। शाखा किसी बड़े संगठन का बाहर निकला भाग होती है। मगर पथ, पंथ, मार्ग ऐसे अनुयायियों को दर्शाते हैं जो एक खास विचार व आचरण के मार्ग पर चलते हैं और अपने विचार व क्रिया को काफी स्वतंत्रता के साथ निर्धारित कर सकते हैं। संप्रदाय अक्सर उपदेशों या शिक्षाओं के जरिए संप्रेषित किया गया मत (डॉक्ट्रिन) होती है। लिहाजा पंथ (सेक्ट) एकाश्म धर्म से टूट हुए टुकड़े नहीं होते। उनकी सत्ता उनके स्वतंत्र संस्थापकों से आती है जिनमें से कुछ ऐतिहासिक व्यक्तित्व रहे हैं। ये पंथ एक विशिष्ट संगठित रूप के तहत चलते हैं और उनकी ज्यादातर शिक्षाएं मुख्य रूप से मौखिक होती हैं। किसी पंथ से जुड़ना प्रायः व्यक्तिगत इच्छा का प्रश्न रहा है। ऐसे पंथों के तहत आने वाले ज्यादातर लोग प्रायः समाज के निचले तबकों से होते थे मगर ऊंची जातियों के लोगों को भी वहां आने से रोका नहीं जाता था।

प्रारंभिक दस्तावेजों में जिस तीसरी श्रेणी को यथारूप सूचीबद्ध नहीं किया गया है वह ऐसे लोगों की श्रेणी है जिनके साथ उनकी निम्न जाति के कारण या जाति के अभाव के कारण भेदभाव किया जाता था। उनके अपने विश्वास और पूजा पद्धतियां होती थीं। भारत में पंथ का उदय एक खुला प्रसंग होता था और इससे ऐसी बहुलता पैदा हुई जो भारत में सभी धर्मों की विशेषता बन गई। यह विशिष्टता धर्म और समाज के संबंधों की समझदारी में एक महत्वपूर्ण पहलू है। यह संबंध अलग-अलग समाज में अलग-अलग होता है। लिहाजा, हम यह नहीं मान सकते कि यूरोप में धर्म की जो भूमिका पैदा हुई उसकी व्याख्या को भारत पर भी जस का तस लागू किया जा सकता है। औपनिवेशिक विद्वान बार-बार यह गलती करते रहे हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ बदल सकता है बल्कि इसका मतलब यह है कि किसी समाज में इसको कैसे लाया जाएगा उस तरीके में काफी फर्क हो सकता है। ♦

नोट: इस व्याख्यान का आयोजन “डॉ. असगर अली इंजीनियर स्मृति व्याख्यान” के तौर पर 19 अगस्त, 2015 को जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली में किया गया था। शिक्षा विमर्श में इस व्याख्यान को प्रकाशन के लिए उपलब्ध कराने के लिए हम इरफान इंजीनियर का तहेदिल से शुक्रिया अदा करते हैं। यह मूल लेख का संक्षिप्त हिस्सा है। पूरा लेख पढ़ने के लिए हमारी वेबसाइट से इसकी सॉफ्ट कॉपी प्राप्त कर सकते हैं।

लेखिका परिचय: भारत की जानी-मानी इतिहासकार हैं। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली में प्रोफेसर ऐमरिता हैं।

भाषान्तर: योगेन्द्र दत्त